अथ तृतीयोऽध्यायः
कर्मयोगः
३. कर्मयोग

अर्जुन उवाच–
ज्यायसी चेत् कर्मणस् ते मता बुद्धिर् जनार्दन ।
तत् किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ।।१।।

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तद् एकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहम् आप्नुयाम् ।।२।।

अर्जुन बोले– हे जनार्दन, यदि आप कर्म से ज्ञान को श्रेष्ठ मानते हैं, तो फिर, हे केशव, आप मुझे इस भयंकर कर्म में क्यों लगा रहे हैं? आप मिश्रित वचनों से मेरी बुद्धि को भ्रमित कर रहे हैं. अतः आप उस एक बात को निश्चित रूप से कहिए, जिससे मेरा कल्याण हो. (३.०१-०२)

श्रीभगवानुवाच–
लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ।।३।।

श्रीभगवान् बोले– हे निष्पाप अर्जुन, इस लोक में दो प्रकार की निष्ठा मेरे द्वारा पहले कही गई है. जिनकी रुचि ज्ञान में होती है, उनकी निष्ठा ज्ञानयोग से और कर्म में रुचिवालों की निष्ठा कर्मयोग से होती है. (३.०३)

ज्ञानयोग को सांख्ययोग या संन्यासयोग भी कहा जाता है. ज्ञानयोगी स्वयं को किसी भी कर्म का कर्ता नहीं मानता. ज्ञान का अर्थ है तात्त्विक अतीन्द्रिय ज्ञान. यहां यह भी बताना जरूरी है कि ज्ञानयोग और कर्मयोग दोनों ही परमात्मा की उपलब्धि के साधन हैं. जीवन में इन दोनों मार्गों का समन्वय श्रेष्ठ माना जाता है. हमें आत्मज्ञान की साधना और निःस्वार्थ सेवा दोनों को अपने जीवन का अंग बनाना चाहिए.

न कर्मणाम् अनारम्भान् नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनाद् एव सिद्धिं समधिगच्छति ।।४।।

मनुष्य कर्म का त्यागकर कर्म के बन्धनों से मुक्त नहीं होता. कर्म के त्याग मात्र से ही सिद्धि की प्राप्ति नहीं होती. (३.०४)

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्य् अकर्मकृत् ।
कार्यते ह्य् अवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर् गुणैः ॥५॥

कोई भी मनुष्य एक क्षण भी बिना कर्म किए नहीं रह सकता, क्योंकि प्रकृति के गुणों द्वारा मनुष्यों से परवश की तरह सभी कर्म करवा लिए जाते हैं. (३.०५)

विचार, शब्द और क्रिया से प्रसूत कर्म का पूर्ण त्याग किसी के लिए भी सम्भव नहीं है. अतः व्यक्ति को हमेशा अपनी रुचि के साधनों से प्रभुसेवा में सक्रिय रहना चाहिए, क्योंकि खाली दिमाग शैतान का घर है. आकांक्षाविहीन मनःस्थिति के साथ आमरण कर्म करते रहना कर्मत्याग तथा प्रभुप्राति के बाद बिताए तापस जीवन, दोनों से श्रेयस्कर है, क्योंकि तापस भी कर्म के आवेग से मुक्त नहीं हो पाता.

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥६॥

जो मूढ़बुद्धि मनुष्य इन्द्रियों को (प्रदर्शन के लिए) रोककर मन द्वारा विषयों का चिन्तन करता रहता है, वह मिथ्याचारी कहा जाता है. (३.०६)

दूसरों की सेवा क्यों?

यस् त्व् इन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगम् असक्तः स विशिष्यते ॥७॥

परन्तु हे अर्जुन, जो मनुष्य बुद्धि द्वारा अपनी इन्द्रियों को वश में करके, अनासक्त होकर, कर्मेन्द्रियों द्वारा निष्काम कर्मयोग का आचरण करता है, वही श्रेष्ठ है. (३.०७)

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्य् अकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येद् अकर्मणः ॥८॥

तुम अपने कर्तव्य का पालन करो, क्योंकि कर्म न करने से कर्म करना श्रेष्ठ है तथा कर्म न करने से तेरे शरीर का निर्वाह भी नहीं होगा. (३.०८)

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ।।९।।

केवल अपने लिए कर्म करने से मनुष्य कर्मबन्धन से बंध जाता है; इसलिए हे अर्जुन, कर्मफल की आसक्ति त्यागकर सेवाभाव से भलीभांति अपने कर्तव्यकर्म का पालन करो. (३.०९)

यज्ञ का अर्थ है त्याग, निःस्वार्थ सेवा, निष्काम कर्म, पुण्य कार्य, दान, देवों के लिए दी गई हवि — हवन के माध्यम से — के साथ की गई पूजा आदि.

पारस्परिक सहयोग विधाता का पहला निर्देश

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वम् एष वोऽस्त्व् इष्टकामधुक् ।।१०।।

सृष्टिकर्ता ब्रह्मा ने सृष्टि के आदि में यज्ञ (अर्थात् निःस्वार्थ सेवा) के साथ प्रजा का निर्माण कर कहा —"इस यज्ञ द्वारा तुम लोग वृद्धि प्राप्त करो और यह यज्ञ तुम लोगों को इष्टफल देनेवाला हो." (३.१०)

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परम् अवाप्स्यथ ।।११।।

तुम लोग यज्ञ के द्वारा देवताओं को उन्नत करो और देवगण तुम लोगों को उन्नत करें. इस प्रकार एक दूसरे को उन्नत करते हुए तुम परम कल्याण को प्राप्त होगे. (३.११)

देव का अर्थ है परमप्रभु का प्रतिनिधि, अलौकिक शासक, दिव्य पुरुष, वह शक्ति, जो इच्छाओं की पूर्ति करता है, जो नियन्ता और रक्षक है. सुधीजन अपना जीवन दूसरों की सेवा करके सफल बनाते हैं, जबकि मूर्ख लोग दूसरों को हानि पहुंचाकर भी अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं. अकेले प्रवेश करने की इच्छा रखनेवालों के लिए स्वर्ग के द्वार भी बन्द रहेंगे. वेदों के अनुसार दूसरों की

सहायता करना व्यक्ति के लिए श्रेष्ठतम पुण्य कर्म है. “एक दूसरे की सेवा करना” सृष्टिकर्ता ब्रह्मा का प्रथम आदेश है, जिसे भगवान् कृष्ण ने गीता में पूर्ण रूप से बताया है.

इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर् दत्तान् अप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ।।१२।।

यज्ञ द्वारा पोषित देवगण तुम्हें इष्टफल प्रदान करेंगे. देवताओं के द्वारा दिए हुए भोगों को जो मनुष्य उन्हें बिना दिए अकेला सेवन करता है, वह निश्चय ही चोर है. (३.१२)

यहां प्रभु ने देवों और मानवों में, मानव और मानव में, राष्ट्र और राष्ट्र में तथा विभिन्न आध्यात्मिक संस्थाओं में प्रतिद्वन्द्विता-विहीन सहयोग-भाव की ओर संकेत किया है. जीवन की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति अन्य लोगों की त्यागमयी सेवाओं से होती है. हमारा जन्म ही एक दूसरे पर निर्भर होने के लिए हुआ है. स्वामी चिन्मयानन्द ने विश्व को सहयोगकर्म का ब्रह्माण्ड-चक्र कहा है. व्यक्ति और समाज दोनों की प्रगति में प्रतिद्वन्द्विता की अपेक्षा सहयोग अधिक लाभदायक है. सहयोग और दूसरों की सहायता के बिना किसी भी सार्थक काम की सिद्धि नहीं हो सकती. भगवान् राम को भी अपने काम में दूसरों की सहायता लेनी पड़ी थी. यह विश्व श्रेष्ठतर स्थान होगा, यदि परस्पर लड़ने या हौड़ करने की अपेक्षा इसके सारे निवासी एक दूसरे को सहयोग और सहायता दें. स्वार्थपूर्ण उद्देश्य ही आध्यात्मिक संस्थाओं को भी पारस्परिक सहयोग से रोकता है, जिसके कारण सनातन हिन्दूधर्म का विश्व में विशेष रूप से प्रचार-प्रसार नहीं हो पाता है.

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्व् अघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ।।१३।।

यज्ञ से बचे हुए अन्न को खानेवाले श्रेष्ठ मनुष्य सब पापों से मुक्त हो जाते हैं; परन्तु जो लोग केवल अपने लिए ही अन्न पकाते हैं, वे पाप के भागी होते हैं. (ऋ.वे. १०.११७.०६ भी देखें.) (३.१३)

भोजन भगवान् के लिए पकाया जाना चाहिए और उपभोग से पूर्व प्रेमपूर्वक भगवान् को अर्पित किया जाना चाहिए. बच्चों को भोजन करने से पूर्व प्रार्थना करना सिखाया जाना चाहिए. प्रार्थना

और प्रभु को धन्यवाद देने से पहले भोजन ग्रहण न करना गृहस्थ का नियम होना चाहिए.

अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्याद् अन्नसंभवः ।
यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥१४॥

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥१५॥

समस्त प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं, अन्न वृष्टि से होता है, वृष्टि यज्ञ से होती है, यज्ञ कर्म से. कर्म वेदों में विहित है और वेद को अविनाशी ब्रह्म से उत्पन्न हुआ जानो. इस तरह सर्वव्यापी ब्रह्म सदा ही यज्ञ (अर्थात् सेवा) में प्रतिष्ठित है. (४.३२ भी देखें.) (३.१४-१५)

ब्रह्म के स्रष्टारूप का नाम ब्रह्मा है. ब्राह्मण भारत में बौद्धिक वर्ग का नाम है.

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुर् इन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥१६॥

हे पार्थ, जो मनुष्य सेवा द्वारा इस सृष्टिचक्र के चलते रहने में सहयोग नहीं देता है, वैसा पापमय, भोगी मनुष्य व्यर्थ ही जीता है. (३.१६)

गेहूं का दाना भूमि में डाले जाने और समा जाने के बिना मात्र एक दाना है. बलिदान होने पर ही वह अनेक दानों को जन्म देता है (जॉन १२.२४). सन्त, वृक्ष, सरिता और पृथ्वी दूसरों के उपयोग के लिए ही हैं.

यस् त्वात्मरतिर् एव स्याद् आत्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च संतुष्टस् तस्य कार्यं न विद्यते ॥१७॥

परन्तु जो मनुष्य परमात्मा में ही रमण करता है तथा परमात्मा में ही तृप्त और संतुष्ट रहता है, वैसे आत्मज्ञानी मनुष्य के लिए कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता. (३.१७)

समस्त कर्त्तव्य, दायित्व, निषेध, नियम और प्रतिबन्ध व्यक्ति को पूर्णता की ओर ले जाने के लिए ही हैं. पूर्ण योगी के लिए कोई भी सांसारिक दायित्व नहीं है.

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिद् अर्थव्यपाश्रयः ॥१८॥

उसका कर्म करने से या न करने से कोई प्रयोजन नहीं रहता तथा वह (परमात्मा के सिवा) किसी और प्राणी पर आश्रित नहीं रहता. (३.१८)

नेता उदाहरण बनें

तस्माद् असक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परम् आप्नोति पूरुषः ॥१९॥

इसलिए तुम अनासक्त होकर सदा अपने कर्तव्यकर्म का भलीभांति पालन करो, क्योंकि अनासक्त रहकर कर्म करने से ही मनुष्य परमात्मा को प्राप्त करता है. (३.१९)

कर्मयोग-दर्शन — मानवता के कल्याण के लिए निःस्वार्थ समर्पण — का प्रतिपादन श्रीमद्भगवद्गीता से पूर्व लिखे किसी भी धार्मिक ग्रन्थ में इतना सुन्दर नहीं हुआ है. परोपकारिता के आदर्श को भगवान् कृष्ण ने पूजा और साधना के श्रेष्ठतम रूप के स्तर पर उठाकर रख दिया है. निष्कामकर्म से व्यक्ति को शालीनता मिलती है, शालीनता से आस्था और आस्था से परम सत्य की प्रतीति होती है. स्वामी विवेकानन्द ने कहा हैः परोपकारी कार्य से हमारे शरीर में कुण्डलिनी और पराशक्ति जाग्रत् होती है.

कर्मणैव हि संसिद्धिम् आस्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुम् अर्हसि ॥२०॥

राजा जनक आदि ज्ञानीजन निष्काम कर्मयोग द्वारा परम सिद्धि को प्राप्त हुए थे. लोककल्याण के लिए भी तुम्हारा कर्म करना ही उचित है. (३.२०)

निःस्वार्थ सेवा करनेवाले कर्म से नहीं बंधते हैं और मुक्ति को प्राप्त करते हैं (वि.पु. १.२२.५२). दूसरों के हित का ध्यान रखनेवालों की पहुंच के कुछ भी बाहर नहीं है. स्वामी हरिहर जी कहते हैंः मानवता की निःस्वार्थ सेवा ही प्रभु की सच्ची सेवा और श्रेष्ठतम पूजा है.

यद् यद् आचरति श्रेष्ठस् तत् तद् एवेतरो जनः ।
स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस् तद् अनुवर्तते ।।२१।।

श्रेष्ठ मनुष्य जैसा आचरण करता है, दूसरे लोग भी वैसा ही आचरण करते हैं. वह जो आदर्श बताता है, जनसमुदाय उसीका अनुसरण करता है. (३.२१)

लोग महापुरुषों का अनुसरण करते हैं (भा.पु. ५.०४.१५). मैंने तुम्हारे सामने एक उदाहरण प्रस्तुत किया है, ताकि तुम वही करोगे जो मैंने तुम्हारे लिए किया है (जॉन १३.१५).

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तम् अवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ।।२२।।

हे पार्थ, तीनों लोकों में न तो मेरा कोई कर्तव्य है और न कोई भी प्राप्त करने योग्य वस्तु मुझे अप्राप्त है, फिर भी मैं कर्म करता हूं. (३.२२)

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ।।२३।।

उत्सीदेयुर् इमे लोका न कुर्यां कर्म चेद् अहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्याम् उपहन्याम् इमाः प्रजाः ।।२४।।

क्योंकि यदि मैं सावधान होकर कर्म न करूं तो, हे पार्थ, मनुष्य मेरे ही मार्ग का अनुसरण करेंगे. इसलिए यदि मैं कर्म न करूं, तो ये सब लोक नष्ट हो जायेंगे और मैं ही इनके विनाश का तथा अराजकता का कारण बनूंगा. (३.२३-२४)

सक्ताः कर्मण्य् अविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद् विद्वांस् तथासक्तश् चिकीर्षुर् लोकसंग्रहम् ।।२५।।

हे भारत, अज्ञानी लोग जिस प्रकार कर्मफल में आसक्त होकर भलीभांति अपना कर्म करते हैं, उसी प्रकार ज्ञानी मनुष्य भी जनकल्याण हेतु आसक्तिरहित होकर भलीभांति अपना कर्म करें. (३.२५)

न बुद्धिभेदं जनयेद् अज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत् सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन् ।।२६।।

ज्ञानी कर्मफल में आसक्त अज्ञानियों की बुद्धि में भ्रम अर्थात् कर्मों में अश्रद्धा उत्पन्न न करे तथा स्वयं (अनासक्त होकर) समस्त कर्मों को भलीभांति करता हुआ दूसरों को भी वैसा ही करने की प्रेरणा दे. (३.२९ भी देखें.) (३.२६)

प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति की महत्ता उसके दो विरोधी विचारों और विरोधाभासों को संभालने की क्षमता में है; जैसे संसार में निरासक्त आसक्ति के साथ जीना. अधिकांश व्यक्ति केवल तभी परिश्रमपूर्वक काम करते हैं, जब उन्हें कर्मफल के भोग या आर्ष ध्येय की प्राप्ति की प्रवर्तक शक्ति ऐसा करने की प्रेरणा देती है. ऐसे व्यक्तियों को हतोत्साहित नहीं करना चाहिए, न उनकी भर्त्सना करना जरूरी है. सम्पत्ति के प्रति अत्यधिक आसक्ति, न कि स्वयं सम्पत्ति, दुःख का कारण बनती है. जिस प्रकार व्यक्ति के लिए पूजा, प्रार्थना आदि करने में पूर्ण एकाग्रता जरूरी है, उसी प्रकार व्यक्ति के लिए सांसारिक कर्त्तव्यों की पूर्ति में भी सम्पूर्णतः ध्यानावस्थित होना आवश्यक है, पूरी तरह यह भी जानते हुए कि संसार और इसके क्रिया-कलाप क्षणिक हैं, संचारी हैं. सांसारिक कर्त्तव्यों की अवहेलना करके व्यक्ति को भगवान् के ध्यान में रत नहीं रहना चाहिए. श्री योगानन्द जी का कथन है– ध्यान के प्रति भी उतनी ही निष्ठा रखो जितनी धनोपार्जन में. व्यक्ति को केवल एकतरफा जीवन नहीं जीना चाहिए.

सभी कर्म प्रकृति करती हैं

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहम् इति मन्यते ।।२७।।

वास्तव में संसार के सारे कार्य प्रकृति मां के गुणरूपी परमेश्वर की शक्ति के द्वारा ही किए जाते हैं, परन्तु अज्ञानवश मनुष्य अपनेआप को ही कर्ता समझ लेता है (तथा कर्मफल की आसक्तिरूपी बन्धनों से बंध जाता है. मनुष्य तो परम शक्ति के हाथ की कठपुतली मात्र है). (५.०९, १३.२९, १४.१९ भी देखें.) (३.२७)

ईश्वर सब कर्मों का कर्ता है. सब कुछ प्रभु की इच्छा के अधीन है. व्यक्ति स्वयं की मृत्यु के लिए भी स्वतंत्र नहीं है. व्यक्ति तब तक प्रभुदर्शन नहीं कर सकता, जब तक वह यह सोचता है कि मैं ही कर्ता हूं. ईश्वर की कृपा से यदि उसे यह अनुभूति हो जाती है कि वह कर्ता नहीं है, तो वह जीवनमुक्त हो जाता है. हमीं कर्ता हैं, हमीं भोक्ता हैं, ऐसा विचार कर्मबन्धन को जन्म देता है. आत्मज्ञानी और साधारण व्यक्ति के द्वारा किया गया एक ही काम भिन्न-भिन्न परिणाम देता है. आत्मज्ञानी द्वारा किया गया कर्म आध्यात्मिक हो जाता है और कर्मबन्धन को जन्म नहीं देता, क्योंकि आत्मज्ञानी स्वयं को कर्ता या भोक्ता नहीं मानता. सामान्य-जन द्वारा किया गया काम कर्मबन्धन को जन्म देता है.

तत्त्ववित् तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥२८॥

परन्तु हे महाबाहो, गुण और कर्म के रहस्य को जाननेवाले ज्ञानी मनुष्य ऐसा समझकर कि (इन्द्रियों द्वारा) प्रकृति के गुण ही सारे कर्म करते हैं (तथा मनुष्य कुछ भी नहीं करता है) कर्म में आसक्त नहीं होते. (३.२८)

प्रकृतेर् गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तान् अकृत्स्नविदो मन्दान् कृत्स्नविन् न विचालयेत् ॥२९॥

प्रकृति के गुणों द्वारा मोहित होकर अज्ञानी मनुष्य गुणों के (द्वारा किए गए) कर्मों में आसक्त रहते हैं, उन्हें ज्ञानी मनुष्य सकाम कर्म के मार्ग से विचलित न करें. (३.२६ भी देखें.) (३.२९)

प्रबुद्ध व्यक्ति को प्रकृति की शक्तियों के सम्मोहन में स्वार्थ सिद्धि के लिए किए जानेवाले कामों से अज्ञानियों को हतोत्साहित या विमुख नहीं करना चाहिए, क्योंकि प्रारम्भिक अवस्था में कर्मत्याग के स्थान पर कर्मरत होना ही अन्त में उन्हें ब्रह्मज्ञान की ओर ले जाएगा.

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर् निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥३०॥

मुझमें चित्त लगाकर, सम्पूर्ण कर्मों (के फल) को मुझमें अर्पण करके, आशा, ममता और संतापरहित होकर अपना कर्तव्य (युद्ध) करो. (३.३०)

ये मे मतम् इदं नित्यम् अनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥३१॥

ये त्वेतद् अभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञानविमूढांस् तान् विद्धि नष्टान् अचेतसः ॥३२॥

जो मनुष्य बिना आलोचना किए, श्रद्धापूर्वक मेरे इस उपदेश का सदा पालन करते हैं, वे कर्मों के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं; परन्तु जो आलोचक मेरे इस उपदेश का पालन नहीं करते, उन्हें अज्ञानी, विवेकहीन तथा खोया हुआ समझना चाहिए. (३.३१-३२)

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर् ज्ञानवान् अपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥३३॥

सभी प्राणी अपने स्वभाव-वश ही कर्म करते हैं. ज्ञानी भी अपनी प्रकृति के अनुसार ही कार्य करता है. फिर इन्द्रियों के निग्रह का क्या प्रयोजन है? (३.३३)

यह ठीक है कि हम अपनी प्रकृति का दमन नहीं कर सकते; न वैसा करना चाहिए, किन्तु हमें अपने क्रमिक विकास के लिए मानवीय जीवन की विवेकशक्तियों का प्रयोग करते हुए इन्द्रियों का दास नहीं, स्वामी होना चाहिए. इन्द्रियों के नियन्ता होने का सर्वोत्तम तरीका है अपनी इन्द्रियों का उपयोग श्रीकृष्ण की सेवा में करना.

पूर्णता के मार्ग में दो बाधाएं

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर् न वशम् आगच्छेत् तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥३४॥

प्रत्येक इन्द्रिय के भोग में राग और द्वेष, मनुष्य के कल्याण-मार्ग में विघ्न डालनेवाले, दो महान् शत्रु रहते हैं. इसलिए मनुष्य को राग और द्वेष के वश में नहीं होना चाहिए. (३.३४)

राग का अर्थ है पुनः पुनः ऐन्द्रिय सुख अनुभव करने की कामना और आसक्ति. द्वेष का अर्थ है अप्रिय वस्तु के प्रति वितृष्णा. ज्ञान की प्राप्ति और प्रसार आदि सभी मानवीय क्रियाकलाप का आधार मन की शान्ति और सुख की खोज ही है. कामना — प्रभु द्वारा प्रदत्त अन्य शक्तियों की भांति —समस्या नहीं है. मन की उचित दशा में, राग-द्वेष पर नियंत्रण रखते हुए कामनाएं की जा सकती हैं. यदि हम अपनी कामनाओं पर नियंत्रण रख सकते हैं, तो जो भी हमारे पास है, वह आवश्यकता न होकर ऐश्वर्य हो जाता है. इस दृष्टिकोण के साथ हम अपनी समस्त अरुचियों और अभिरुचियों के स्वामी हो सकते हैं. इसके लिए अनिवार्य है वह मनोदशा, जो हर वस्तु को ऐश्वर्य का रूप दे दे. ज्ञान, अनासक्ति और भक्तिवालों को किसी सांसारिक पदार्थ, व्यक्ति या कर्म के प्रति न रुचि होती है, न अरुचि.

व्यक्ति को निजी रुचियों या अरुचियों का ध्यान रखे बिना कर्तव्यभावना से कर्म करना चाहिए. इस युग में कर्मयोग ही वह तपस्या है, जिसके द्वारा व्यक्ति हिमालय के वनों या पर्वतों में गए बिना समाज में रहते और कर्म करते हुए भगवान् तक पहुंच सकता है.

प्रभु के लिए किया गया कर्म सभी के लिए लाभदायक है, वैसे ही जैसे एक-एक पत्ती को जल देने की अपेक्षा पेड़ की जड़ को सींचने से पेड़ के हर भाग को पानी मिल जाता है. ज्ञान और वैराग्य पाते ही सुधीजनों की सब रुचियों और अरुचियों का विनाश हो जाता है. पूर्णता के मार्ग में व्यक्तिगत अभिरुचियां और अरुचियां दो मुख्य बाधाएं हैं. राग-द्वेष पर विजय पानेवाला व्यक्ति मुक्त पुरुष हो जाता है और मोक्ष पा लेता है.

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ।।३५।।

अपना गुणरहित सहज और स्वाभाविक कार्य आत्मविकास के लिए दूसरे अच्छे अस्वाभाविक कार्य से श्रेयस्कर है. स्वधर्म के कार्य में मरना भी कल्याणकारक है. अस्वाभाविक कार्य हानिकारक होता है. (१८.४७ भी देखें.) (३.३५)

अपने स्वभाव द्वारा नियत कर्तव्य का पालन-कर्ता कर्मबन्धनों से मुक्त रहता है और धीरे-धीरे भौतिक प्रकृति के त्रिगुणात्मक संसार से ऊपर उठ जाता है (भा.पु. ७.११.३२). अपने स्वभाव या संस्कार-जन्य कर्म से ही व्यक्ति का विकास होता है. जो उस काम में हाथ ड़ालता है जिसके लिए वह बना नहीं है, उसे अवश्य ही असफलता मिलती है. स्वाभाविक कर्म तनाव पैदा नहीं करता और रचनात्मकता का स्रोत है. अपने स्वभाव के विपरीत कर्म न केवल तनावपूर्ण होता है, बल्कि फलदायक भी नहीं होता और उसमें आध्यात्मिक विकास और उन्नति के लिए भी मुक्त समय नहीं मिलता. दूसरी ओर, यदि कोई अति सहज या कलात्मक जीवन का अनुसरण करता है, तो हो सकता है वह गृहस्थ की मूल आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए यथेष्ट कमा भी न सके. अतः सादा जीवन जिओ, अनावश्यक ऐश्वर्य-सामग्री को सीमित करो और निःस्वार्थ सेवा की अभिरुचि पैदा करो, ताकि जीवन की भौतिक और आध्यात्मिक आवश्यकताओं में संतुलन रख सको. सन्तुलित जीवन ही सुखी जीवन है.

काम पाप का मूल है

अर्जुन उवाच—
अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्न् अपि वार्ष्णेय बलाद् इव नियोजितः ॥३६॥

अर्जुन बोले— हे कृष्ण, न चाहते हुए भी बलपूर्वक बाध्य किए हुए के समान किससे प्रेरित होकर मनुष्य पाप का आचरण करता है? (३.३६)

श्रीभगवानुवाच—
काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनम् इह वैरिणम् ॥३७॥

श्रीभगवान् बोले— रजोगुण से उत्पन्न यह काम है, यही क्रोध है, कभी भी पूर्ण नहीं होनेवाले इस महापापी काम को ही तुम (आध्यात्मिक मार्ग का) शत्रु जानो. (३.३७)

रजोगुण वांछित फलों की प्रप्ति के लिए घोरकर्म की ओर प्रेरित करनेवाला मानसिक असन्तुलन है. काम — समस्त ऐन्द्रिय

और भौतिक सुखों की गहन कामना — रजोगुण से पैदा होता है. अतृप्त काम क्रोध को जन्म देता है. फल-प्राप्ति में बाधा या व्यवधान होने से फल-प्राप्ति की गहन कामना भयावह क्रोध में बदल जाती है. अतः भगवान् कहते हैं कि रजोगुण-प्रसूत काम और क्रोध दो शक्तिशाली शत्रु हैं, जो व्यक्ति को पाप करने की ओर ले जा कर आत्मज्ञान — मानव-जीवन का परम ध्येय — के मार्ग से भटका सकते हैं. वस्तुतः व्यक्ति की इच्छाशक्ति के बावजूद भी सांसारिक कामनाएं उसे पापकर्म में रत होने के लिए बाध्य करती हैं. भगवान् बुद्ध का कथन है— स्वार्थपूर्ण कामना ही सब पापों और शोक का मूल है.

धूमेनाव्रियते वह्निर् यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस् तथा तेनेदम् आवृतम् ॥३८॥

जैसे धुएं से अग्नि और धूलि से दर्पण ढक जाता है तथा जेर से गर्भ ढका रहता है, वैसे ही काम आत्मज्ञान को ढक देता है. (३.३८)

आवृतं ज्ञानम् एतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥३९॥

हे कौन्तेय (अर्जुन), अग्नि के समान कभी तृप्त न होनेवाले, ज्ञानियों के नित्य शत्रु, काम, के द्वारा ज्ञान ढक जाता है. (३.३९)

काम और ब्रह्मज्ञान एक दूसरे के शाश्वत शत्रु हैं. काम का विनाश ब्रह्मज्ञान से ही हो सकता है.

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिर् अस्याधिष्ठानम् उच्यते ।
एतैर् विमोहयत्य् एष ज्ञानम् आवृत्य देहिनम् ॥४०॥

इन्द्रियां, मन और बुद्धि काम के निवास-स्थान कहे जाते हैं. यह काम इन्द्रियां, मन और बुद्धि को अपने वश में करके ज्ञान को ढककर मनुष्य को भटका देता है. (३.४०)

काम पर विजय कैसे पाएं

तस्मात् त्वम् इन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥४१॥

इसलिए हे अर्जुन, तुम पहले अपनी इन्द्रियों को वश में करके, ज्ञान और विवेक के नाशक इस पापी कामरूपी शत्रु का विनाश करो. (३.४१)

मर्त्य पुरुष कामपाश से मुक्त होने पर अमर हो जाता है और इसी जन्म में मोक्ष पा लेता है (कठ.उ. ६.२४, बृह.उ. ४.०४.०७).

इन्द्रियाणि पराण्याहुर् इन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस् तु परा बुद्धिर् यो बुद्धेः परतस् तु सः ॥४२॥

इन्द्रियां शरीर से श्रेष्ठ कही जाती हैं, इन्द्रियों से परे मन है और मन से परे बुद्धि है और आत्मा बुद्धि से भी अत्यन्त श्रेष्ठ है. (कठ.उ. ३.१० तथा गीता ६.०७-०८ भी देखें.) (३.४२)

इन्द्रियों से मन, मन से बुद्धि, बुद्धि से ज्ञान और ज्ञान से आत्मा श्रेष्ठ है (म.भा. १२.२०४.१०).

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानम् आत्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥४३॥

इस प्रकार आत्मा को मन और बुद्धि से श्रेष्ठ जानकर, (सेवा, ध्यान, पूजन आदि से की हुई शुद्ध) बुद्धि द्वारा मन को वश में करके, हे महाबाहो, तुम इस दुर्जय कामरूपी शत्रु का विनाश करो. (कठ.उ. ३.०३-०६ भी देखें.) (३.४३)

अनियंत्रित सांसारिक कामनाएं जीवन की सुन्दर आध्यात्मिक यात्रा को नष्ट कर देंगी. धर्मग्रन्थ मन में उत्पन्न हुई कामनाओं को समुचित नियंत्रण में रखने का मार्ग और साधन प्रदान करते हैं. शरीर की तुलना एक रथ से की जा सकती है, जिसमें यात्री-स्वामी-भोक्ता स्वरूप जीवात्मा भगवान् कृष्ण के परमधाम की ओर आध्यात्मिक यात्रा कर रहा है. कर्तव्य और त्याग उस रथ के दो पहिये और भक्ति उसका धुरा है. सेवा उसका मार्ग है और दैवीगुण मील के पत्थर. धर्मग्रन्थ अज्ञान के अंधेरे को दूर करने के लिए मार्गदर्शक प्रकाश-स्तम्भ हैं. मन और पंचेन्द्रियां इस रथ के घोड़े हैं. ऐन्द्रिय भोग-पदार्थ मार्गतट पर उगे हरित तृण हैं, रागद्वेष मार्ग के रोड़े हैं तथा काम, क्रोध और लोभ लुटेरे हैं. मित्र और सम्बन्धी मार्ग में अस्थायी रूप से मिले सहयात्री हैं. बुद्धि इस रथ का सारथी है. यदि बुद्धिरूपी सारथी को ज्ञान और इच्छाशक्ति से पवित्र और

शक्तिशाली नहीं बनाया गया, तो बुद्धि मन को नियंत्रित न कर सकेगी और ऐन्द्रिय तथा भौतिक सुखों की सशक्त कामनाएं मन को अपने नियंत्रण में कर लेंगी. मन और इन्द्रियां दुर्बल सारथी, बुद्धि, पर आक्रमण कर उसे अपने नियंत्रण में कर लेंगे और मुक्तिमार्ग से भटकाकर वे जीवात्मा रूपी यात्री को आवागमन के गर्त में ढकेल देंगे.

यदि बुद्धि भलीभांति प्रशिक्षित है और आत्मज्ञान तथा विवेक की अग्नि में तपकर पावन हो चुकी है, तो वह आध्यात्मिक साधना और वैराग्य रूपी दो लगामों और यम-नियम के कोड़ों से इन्द्रियों के अश्वों को नियंत्रण में रखने में समर्थ होगी. सारथी को सदा लगाम पूरी तरह अपने हाथ में रखनी चाहिए, नहीं तो इन्द्रियों के अश्व रथ को अज्ञान के गर्त में ले जाएंगे. अधिकांश मोटरकार की दुर्घटनाएं चालक की क्षणिक असावधानी के कारण होती हैं, उसी तरह एक क्षण की असावधानी भी व्यक्ति को मार्ग से विचलित कर सकती है. अन्त में समाधि के आध्यात्मिक तट पर पहुंचने के लिए व्यक्ति को माया रूपी नदी को पार करने के हेतु – ध्यान और मनतरंगों को वश में करने तक – प्रभुनाम-जप के सेतु का सहारा लेना चाहिए. इन्द्रियों को वश में न कर सकनेवाला व्यक्ति मानवजन्म के ध्येय, आत्मज्ञान, को नहीं पा सकता.

अनुचित अस्थायी इन्द्रियसुखों से व्यक्ति स्वयं को विनष्ट न करे. इन्द्रियों को वश में करनेवाला व्यक्ति सारे विश्व को वश में कर सकता है और सभी उद्यमों में सफलता पा सकता है. मनोवेगों का पूर्ण निरस्तीकरण तो सम्भव नहीं है, किन्तु वे ज्ञान द्वारा नियंत्रण में रखे जा सकते हैं. जिस प्रकार वर्षाकाल में पावन गंगा नदी का स्वच्छ जल भी मैला हो जाता है, उसी तरह युवाकाल में बुद्धि भी दूषित हो जाती है. अच्छी संगति और जीवन के उच्च ध्येय का निर्धारण मन और बुद्धि को ऐन्द्रिय सुखों के भटकाव से प्रदूषित होने से बचाते हैं.

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥

इस प्रकार श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र
विषयक श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् का कर्मयोग
नामक तीसरा अध्याय पूर्ण होता है.

अथ सप्तमोऽध्यायः
ज्ञानविज्ञानयोगः
७. ज्ञानविज्ञानयोग

श्रीभगवानुवाच–
मय्य् आसक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन् मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥१॥

श्रीभगवान् बोले– हे पार्थ, अनन्य प्रेमसे मुझमें आसक्त मनवाले, मेरे आश्रित होकर अनन्य प्रेमभाव से योग का अभ्यास करते हुए तुम मुझे पूर्ण रूपसे निस्सन्देह कैसे जान सकोगे, उसे सुनो. (७.०१)

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानम् इदं वक्ष्याम्य् अशेषतः ।
यज् ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज् ज्ञातव्यम् अवशिष्यते ॥२॥

मैं तुम्हें ब्रह्म-अनुभूति (विज्ञान) सहित ब्रह्मविद्या (ज्ञान) प्रदान करूंगा, जिसे जानकर संसार में फिर और कुछ भी जानना शेष नहीं रह जाता है. (मु.उ. १.०१.०३ भी देखें.) (७.०२)

वे, जो परब्रह्म को जान लेते हैं, पूर्णता पा लेते हैं (ऋ.वे. १.१६४.३९). जब परब्रह्म का श्रवण, मनन, दर्शन, चिन्तन और ज्ञान हो जाता है, तब सब कुछ जान लिया जाता है. व्यक्ति सर्वज्ञ हो जाता है (बृह.उ. ४.०५.०६). ब्रह्मविद्या की उषा के आगमन के साथ अन्य सब चीजों के ज्ञान की आवश्यकता अप्रासांगिक हो जाती है. जैसे स्वर्ण के ज्ञान के बाद स्वर्ण से निर्मित सब पदार्थ जान लिए जाते हैं, उसी प्रकार परब्रह्म को जानने से परब्रह्म की सब अभिव्यक्तियों का ज्ञान हो जाता है. परब्रह्म और क्षर पुरुष दोनों को पूर्णतः समझने के लिए ब्रह्म का समझना अनिवार्य है. योगी चिमनभाई का कहना है– जो भगवान् कृष्ण को परब्रह्म के रूप में जानता है, वह सर्वज्ञ समझा जाता है, पर जो सब कुछ जानता है, पर श्रीकृष्ण को नहीं जानता, वह कुछ भी नहीं जानता.

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये ।
यतताम् अपि सिद्धानां कश्चिन् मां वेत्ति तत्त्वतः ॥३॥

हजारों मनुष्यों में कोई एक मेरी प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है और उन प्रयत्न करनेवाले सिद्ध योगियों में भी कोई एक मुझे पूर्ण रूप से जान पाता है. (७.०३)

बुलाए तो बहुत जाते हैं, पर चुने थोड़े-से ही जाते हैं (मैत्थ्यु २२.१४). परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण का ज्ञान और भक्ति पा लेनेवाले भाग्यवान् थोड़े-से ही हैं.

प्रकृति, पुरुष, और आत्मा की परिभाषा

भूमिर् आपोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिर् एव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिर् अष्टधा ।।४।।

मेरी प्रकृति पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार तत्त्व आठ प्रकार से विभाजित है. (१३.०५ भी देखें.) (७.०४)

'प्रकृति' शब्द से अभिप्राय है भौतिक मूल कारण, वह पदार्थ जिससे सब चीजों का निर्माण होता है. प्रकृति भौतिक विश्व का मूल स्रोत है, जो सांख्य-सिद्धान्त के अनुसार उन तीन गुणों और आठ मूल तत्त्वों से बनी है, जिनसे विश्व की सब वस्तुओं का विकास हुआ है. समस्त विश्व के निर्माण का भौतिक मूल कारण वेदान्त के अनुसार माया है और सांख्य के अनुसार प्रकृति. प्रकृति को असत्, क्षर, तत्त्व, नियति, भौतिक प्रकृति, महत्ब्रह्म, क्षेत्र, कृति, व्यक्त आदि भी कहा गया है. वह, जो विविधता का निर्माण करती है और स्वयं विविध रूपों में अवतरित होती है तथा वह सब जो देखा या जाना जा सकता है, प्रकृति कहलाती है.

अपरेयम् इतस् त्व् अन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ।।५।।

हे महाबाहो, उपरोक्त प्रकृति मेरी अपरा शक्ति है. इससे भिन्न मेरी एक दूसरी परा चेतन शक्ति (अर्थात् 'पुरुष') है, जिसके द्वारा यह जगत् धारण किया जाता है. (७.०५)

श्लोक ७.०४ और ७.०५ में प्रकृति के दो प्रकारों का वर्णन है. श्लोक ७.०४ में वर्णित अष्टांग प्रकृति को अपरा शक्ति या जड़ प्रकृति कहा गया है. यही सामान्यतः प्रकृति जानी जाती है. भौतिक

विश्व का यही निर्माण करती है. श्लोक ७.0५ में वर्णित दूसरी प्रकृति को परा शक्ति, चेतन प्रकृति, चेतना, बोध, आत्मा, अक्षर पुरुष आदि भी कहा गया है. यही सामान्यतः पुरुष कहा जाता है. पुरुष अपरिवर्तनीय, अविकारी है. जबकि पुरुष से उत्पन्न प्रकृति परिवर्तनशील है, विकारी है. पुरुष प्रकृति का निरीक्षण करता है, साक्षी है और निर्देशक भी.

पुरुष विश्व की सृष्टि का निमित्त-कारण है. प्रकृति और पुरुष की दो स्वतंत्र सत्ताएं नहीं हैं, वरन् एक ही ब्रह्म के दो स्वरूप हैं. ब्रह्म, पुरुष तथा प्रकृति एक ही हैं और भिन्न भी हैं, जिस प्रकार सूर्य, उसका प्रकाश तथा ऊष्मा एक होते हुए भी भिन्न हैं.

जल और जल से उत्पन्न तथा जल से पोषित मछली एक ही नहीं हैं, वैसे ही पुरुष और पुरुष से उत्पन्न प्रकृति भी एक नहीं हैं (म.भा. १२.३१५.१४). जब पुरुष प्रकृति के गुणों का आनन्द इन्द्रियों के संयोग से भोगता है, तब वह जीव कहलाता है. आत्मा और जीव भी भिन्न हैं, क्योंकि आत्मा जीव का पोषण करती है, लेकिन ज्ञानी लोग उन दोनों में कोई अन्तर नहीं देखते (भा.पु. ४.२८.६२).

परब्रह्म, ब्रह्म, आत्मा, पुरुष, प्रकृति आदि कुछ शब्दों की परिभाषा विभिन्न सिद्धान्त-शास्त्रों में भिन्न-भिन्न की गई है और संदर्भों के अनुसार उनके अर्थ भी भिन्न होते हैं. प्रस्तुत विवरण में सम्प्रदाय-निरपेक्ष 'भगवान् (God)' शब्द से अभिप्राय है विश्व का एकमात्र प्रभु, जिसे हम व्यक्तिगत नाम 'श्रीकृष्ण' से पुकारना पसन्द करते हैं. आध्यात्मिक यात्रा के पथ पर अग्रसर पाठक के लिए विभिन्न पारिभाषिक शब्द भ्रम पैदा कर सकते हैं, अतः इन विभिन्न अभिव्यक्तियों का सम्पूर्ण अर्थ, प्रयोग और क्रमिक सम्बन्ध किसी की सहायता से जानना चाहिए.

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्य् उपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस् तथा ॥६॥

तुम ऐसा समझो कि इन दोनों शक्तियों प्रकृति और पुरुष के संयोग से ही समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं; तथा मैं, परब्रह्म परमात्मा, ही सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति और प्रलय का स्रोत हूं. (१३.२६ भी देखें.) (७.0६)

परमात्मा सब वस्तुओं का आधार

मत्तः परतरं नान्यत् किंचिद् अस्ति धनंजय ।
मयि सर्वम् इदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥७॥

हे धनंजय, मुझसे श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है. यह सम्पूर्ण जगत् मुझ परब्रह्म परमात्मारूपी सूत में (हार की) मणियों की तरह पिरोया हुआ है. (७.०७)

गौ, अश्व, मानव, पक्षी तथा अन्य समस्त प्राणियों में वही एक आत्मा विद्यमान है, वैसे ही जैसे रत्न, हीरे, सोने, मोती या काठ से निर्मित माला में वही सूत्र (म.भा. १२.२०६.०२-०३). यह समस्त सृष्टि प्रभु से व्याप्त है (यजु.वे. ३२.०८).

रसोऽहम् अप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥८॥

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश् चास्मि तपस्विषु ॥९॥

हे अर्जुन, मैं जल में रस हूं, चन्द्रमा और सूर्य में प्रकाश हूं, सब वेदों में ओंकार हूं, आकाश में शब्द और मनुष्यों में मनुष्यत्व हूं. मैं पृथ्वी में पवित्र गन्ध और अग्नि में तेज हूं. सम्पूर्ण भूतों का जीवन और तपस्वियों में तप हूं. (७.०८-०९)

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर् बुद्धिमताम् अस्मि तेजस् तेजस्विनाम् अहम् ॥१०॥
बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥११॥

हे पार्थ, सम्पूर्ण भूतों का सनातन बीज मुझे ही जानो. मैं बुद्धिमानों की बुद्धि और तेजस्वियों का तेज हूं. (९.१८, १०.३९ भी देखें.) हे भरतश्रेष्ठ, मैं आसक्ति और कामना से रहित बलवानों का बल हूं और मनुष्यों में धर्म के अनुकूल (सन्तान की उत्पत्ति मात्र के लिए) किए जानेवाला सम्भोग हूं. (७.१०-११)

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास् तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान् विद्धि न त्व् अहं तेषु ते मयि ॥१२॥

जो भी सात्त्विक, राजसिक तथा तामसिक गुण हैं, उन सबको तुम मुझसे ही उत्पन्न हुआ जानो. (अतः) वे (गुण) मुझपर निर्भर करते हैं, परन्तु मैं उनके आश्रित या उनसे प्रभावित नहीं होता हूं. (९.०४, ९.०५ भी देखें.) (७.१२)

त्रिभिर् गुणमयैर् भावैर् एभिः सर्वम् इदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति माम् एभ्यः परम् अव्ययम् ॥१३॥

प्रकृति के इन तीनों गुणों के कार्यों से यह सारा संसार भ्रमित रहता है, अतः मनुष्य इन गुणों से परे मुझ अविनाशी परमात्मा को नहीं जानता है. (७.१३)

प्रभु की खोज किसको?

दैवी ह्य् एषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
माम् एव ये प्रपद्यन्ते मायाम् एतां तरन्ति ते ॥१४॥

मेरी इस अलौकिक त्रिगुणमयी माया को पार करना बड़ा ही कठिन है; परन्तु जो मनुष्य मेरी शरण में आते हैं, वे इस माया को (आसानी से) पार कर जाते हैं. (१४. २६, १५.१९, १८.६६ भी देखें.) (७.१४)

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावम् आश्रिताः ॥१५॥

पाप कर्म करनेवाले, मूर्ख, आसुरी स्वभाववाले नीच मनुष्य तथा माया के द्वारा हरे हुए ज्ञानवाले मेरी शरण में नहीं आते हैं. (७.१५)

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुर् अर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥१६॥

हे अर्जुन, चार प्रकार के उत्तम मनुष्य – दुःख से पीडित, परमात्मा को जानने की इच्छावाले जिज्ञासु, धन या किसी इष्टफल की इच्छावाले तथा ज्ञानी – मुझे भजते हैं. (तु.रा. १.२१.०३ भी देखें.) (७.१६)

श्लोक ७.१६-१६ में प्रयुक्त ज्ञानी शब्द का अभिप्राय उस प्रबुद्ध व्यक्ति से है, जिसे परब्रह्म परमात्मा का सच्चा ज्ञान हो गया है.

व्यक्ति जो भी काम करता है, वह कामना की उपज है. फल की कामना के बिना कोई भी व्यक्ति कभी भी कुछ भी नहीं कर सकता (म.स्मृ. २.०४). कामनाओं का सम्पूर्ण विनाश नहीं किया जा सकता, परन्तु निम्न कोटि की स्वार्थपूर्ण कामनाओं का परिवर्तन कर सकते हैं. मुक्ति की कामना कामना का श्रेष्ठ उदात्त रूप है. समस्त मानवीय कामनाओं में श्रीकृष्ण की भक्ति की कामना उच्चतम और पावनतम मानी जाती है. ऐसा कहा गया है कि प्रबुद्ध भक्त मुक्ति की भी कामना नहीं करते. वे जन्म-जन्मान्तर तक श्रीकृष्ण की प्रेम-भरी सेवा की ही गहन कामना करते हैं.

जो भक्त परिपूर्णता के लिए प्रभु की ओर प्रेरित होते हैं, उनकी निम्न कोटि की कामनाएं भुने हुए बीज के दानों की तरह हो जाती हैं, जो अंकुरित होकर कामना के बड़े वृक्ष में नहीं बढ़ सकते. वास्तविक महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि भक्ति, मुक्ति, प्रेम, घृणा, भय या भौतिक लाभ के लिए भी भगवान् कृष्ण में मन को पूर्णतः ध्यान-मग्न होकर लगाएं (भा.पु. १०.२२.२६).

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर् विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थम् अहं स च मम प्रियः ॥१७॥

उन चार भक्तों में भी मुझमें निरन्तर लगा हुआ अनन्य भक्ति-युक्त ज्ञानी श्रेष्ठ है; क्योंकि मुझ परमात्मा को तत्त्व से जाननेवाले ज्ञानी भक्त को मैं अत्यन्त ही प्रिय हूं और वह भी मुझे अत्यन्त प्रिय है. (७.१७)

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्व् आत्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा माम् एवानुत्तमां गतिम् ॥१८॥

उपरोक्त सभी भक्त श्रेष्ठ हैं, परन्तु मेरी समझसे तत्त्वज्ञ तो साक्षात् मेरा ही स्वरूप है; क्योंकि युक्तात्मा उत्तम गति को प्राप्त कर मेरे परमधाम में निवास करता है. (९.२९ भी देखें.) (७.१८)

बहूनां जन्मनाम् अन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वम् इति स महात्मा सुदुर्लभः ॥१९॥

अनेक जन्मों के बाद ब्रह्मज्ञान प्राप्तकर कि "यह सब कुछ कृष्णमय है," मनुष्य मुझे प्राप्त करता है; ऐसा महात्मा बहुत दुर्लभ है. (७.१९)

सब कुछ वस्तुतः ब्रह्म ही है, ब्रह्म से सब कुछ उत्पन्न होता है, उसी में निवास करता है और उसी में विलीन हो जाता है (छा.उ. ३.१४.०१). सब कुछ ब्रह्म ही है, वही सर्वत्र है. यह सारा जगत् ब्रह्म ही है (मु.उ. २.०२.११). बाइबिल का कहना है– तुम ही देवगण हो (जॉन १०.३४). वेदों और उपनिषदों की उक्ति है– चेतना ब्रह्म है (प्रज्ञानं ब्रह्म, ऋग्वेद, ऐत.उ. ३.०३). मैं ही ब्रह्म हूं (अहं ब्रह्मास्मि, यजुर्वेद, बृह.उ. १.०४.१०). तुम ही ब्रह्म हो (तत्त्वमसि, सामवेद, छा.उ. ६.०८.०७). आत्मा ब्रह्म है (अयमात्मा ब्रह्म, अथर्ववेद, मा.उ. ०२). वह, जो एक है, इन सब वस्तुओं का रूप लेता है (ऋ.वे. ८.५८.०२). समस्त सृष्टि और सत्ता का समस्त क्रम ब्रह्म के भिन्न-भिन्न रूप को छोड़कर कुछ भी नहीं है.

कस्तूरी मृग कस्तूरी की सुगन्धि के स्रोत की निरर्थक खोज के बाद अन्त में अपने में ही कस्तूरी को पाने के लिए बाध्य होगा. प्रभुबोध के बाद व्यक्ति समस्त विश्व और प्राणियों के अस्तित्व में प्रभु की ही अलौकिक सत्ता को देखता है. सब कुछ चेतना ही है. सृष्टि माया की वायु से चेतना के सागर में उत्पन्न होती हुई असंख्य तरंगों की तरह है. सब कुछ, माया सहित, उसी परम सत्ता के अभिन्न अंग को छोड़कर कुछ नहीं है.

कामैस् तैस्तैर् हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियमम् आस्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥२०॥

भोगों की कामना द्वारा जिनका ज्ञान हरा जा चुका है, ऐसे मनुष्य अपने स्वभाव से प्रेरित होकर नियमपूर्वक देवताओं की पूजा करते हैं. (७.२०)

भक्ति के किसी भी वांछनीय रूप की मूर्ति में प्रभु का दर्शन सम्भव

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुम् इच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां ताम् एव विदधाम्य् अहम् ।।२१।।
स तया श्रद्धया युक्तस् तस्याराधनम् ईहते ।
लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान् ।।२२।।

जो कोई सकाम भक्त जिस किसी भी देवता को श्रद्धापूर्वक पूजना चाहता है, मैं उस भक्त की श्रद्धा को उसी देवता के प्रति स्थिर कर देता हूं. उस स्थिर श्रद्धा से युक्त वह मनुष्य अपने इष्टदेव की पूजा करता है और उस देवता के द्वारा इच्छित भोगों को निस्सन्देह प्राप्त करता है. वास्तव में वे इष्टफल मेरे द्वारा ही दिए जाते हैं. (७.२१-२२)

देवगणों की शक्ति भी परम प्रभु से ही आती है, जिस प्रकार सुरभि फूल से (भा.पु. ६.०४.३४). प्रभु ही कर्मफल का दाता है (ब्र.सू. ३.०२.३८). प्रभु ही अपने उपासकों की सब कामनाएं पूरी करता है (भा.पु. ४.१३.३४). श्रद्धा और प्रेम से उपासना किए जाने पर प्रभु भक्त की सब निष्ठाएं और लाभकारी कामनाएं पूरी करता है. ज्ञानी को अनुभूति होती है कि सब नाम और रूप उसी के हैं, जबकि अज्ञानी दूसरों के मूल्य पर अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए धर्म के नाम से धर्मयुद्ध करते हैं.

कहा जाता है कि व्यक्ति जिस किसी भी देवी-देवता की पूजा करता है, उनको दिया हर अर्घ्य, उनकी की गई हर उपासना, परब्रह्म परमात्मा को ही पहुंचती है; वैसे ही, जैसे वर्षा का सारा जल सागर में ही पहुंचता है. प्रभु के जिस नाम और रूप की भी भक्त आराधना करता है, वह सब उसी परब्रह्म की पूजा है और व्यक्ति श्रद्धा सहित की गई उस देवपूजा का पुरस्कार पाता है.

अन्तवत् तु फलं तेषां तद् भवत्य् अल्पमेधसाम् ।
देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति माम् अपि ।।२३।।

परन्तु उन अल्पबुद्धिवाले मनुष्यों को (नाशवान्) देवताओं का दिया हुआ फल नाशवान् होता है. देवताओं को पूजनेवाले देवलोक

को प्राप्त करते हैं तथा मेरे भक्त (परमधाम में आकर) मुझे ही प्राप्त करते हैं. (७.२३)

अव्यक्तं व्यक्तिम् आपन्नं मन्यन्ते माम् अबुद्धयः ।
परं भावम् अजानन्तो ममाव्ययम् अनुत्तमम् ।।२४।।

अज्ञानी मनुष्य मुझ परब्रह्म परमात्मा के मन, बुद्धि तथा वाणी से परे, परम अविनाशी दिव्य रूप को नहीं जानने और समझने के कारण ऐसा मान लेते हैं कि मैं बिना रूपवाला निराकार हूं तथा रूप धारण करता हूं. (७.२४)

श्लोक २.२५, २.२८, ७.२४, ८.१८, ८.२०, ८.२१, ९.०४, १२.०१, १२.०३, १२.०५ और १३.०५ में 'अव्यक्त' शब्द का प्रयोग हुआ है. संदर्भ के अनुसार इस शब्द के भी भिन्न-भिन्न अर्थ होते हैं. यह आदि प्रकृति के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है और ब्रह्म के अर्थ में भी. परब्रह्म आदि प्रकृति और ब्रह्म दोनों से ऊपर है. 'अव्यक्त' शब्द का अर्थ आकारहीन नहीं है. इसका अर्थ अप्रकट या लोकोत्तर अनुभवातीत रूप है, जो शारीरिक चक्षुओं के लिए अदृश्य, मन की समझ से परे और शब्दों के लिए अवर्णनीय है. सभी वस्तुओं के रूप हैं. सृष्टि में कुछ भी, परब्रह्म-सहित, रूपहीन नहीं है. सभी रूप उसके ही रूप हैं. परब्रह्म का रूप और व्यक्तित्व दिव्य हैं. वह शाश्वत, अनादि और अनन्त है. अदृश्य परम सत्ता ही दृश्य जगत् का आधार है.

इस श्लोक का अर्थ सर्वमान्य विश्वास का खंडन करता-सा प्रतीत होता है कि प्रभु, जैसा कि श्लोक ४.०६-०८ और ९.११ में कहा गया है, अवतार लेते हैं. श्लोक ७.२४ में यह कहा गया है कि परब्रह्म सदा अव्यक्त हैं और इसलिए कभी प्रकटरूप नहीं होते. सही अर्थों में परब्रह्म अवतरित नहीं होते. वे कभी भी परमधाम के बाहर नहीं जाते. यह तो ब्रह्म की ज्ञानशक्ति है, जो सृष्टि, पोषण, विनाश और अवतरण का काम अपनी असंख्य शक्तियों द्वारा करती रहती है.

प्रभु का शास्वत दिव्य रूप मनुष्य के मन और बुद्धि द्वारा ज्ञेय आकृति या अनाकृति से परे है. सन्त-मुनियों द्वारा अदृश्य, सार्वभौमिक और अवर्णनीय प्रभु का वर्णन सामान्य भक्तों के मनों में प्रभु का प्यार पैदा करने के लिए किया गया है, जो अर्चन-पूजन के लिए नितान्त आवश्यक है. प्रभु भक्त के सामने किसी साकार रूप में

उसकी आस्था को सुदृढ़ करने के लिए प्रकट होते हैं. अतः व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि वह प्रभु के सब रूपों का आदर करे, पर किसी एक रूप के साथ सम्बन्ध स्थापित करके केवल उसी की पूजा करे.

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको माम् अजम् अव्ययम् ।।२५।।

जो मूढ़ मनुष्य मुझ परब्रह्म परमात्मा के जन्मरहित, अविनाशी, दिव्य रूप को अच्छी तरह नहीं जान तथा समझ पाते हैं, उन सबके सामने अपनी योगमाया से छिपा हुआ मैं कभी प्रकट नहीं होता हूं. (७.२५)

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ।।२६।।

हे अर्जुन, मैं भूत, वर्तमान और भविष्य के सब प्राणियों को जानता हूं, परन्तु मुझे कोई नहीं जानता. (७.२६)

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप ।।२७।।

येषां त्व् अन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ।।२८।।

हे अर्जुन, राग और द्वेष से उत्पन्न (सुख-दुःखादि) द्वन्द्व द्वारा भ्रमित सभी प्राणी अत्यन्त अज्ञता को प्राप्त होते हैं; परन्तु निष्काम भाव से अच्छे कर्म करनेवाले जिन मनुष्यों के सारे पाप नष्ट हो गए हैं, वे राग-द्वेष-जनित भ्रम से मुक्त होकर दृढ़निश्चय कर मेरी भक्ति करते हैं. (७.२७-२८)

जरामरणमोक्षाय माम् आश्रित्य यतन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद् विदुः कृत्स्नम् अध्यात्मं कर्म चाखिलम् ।।२९।।

जो मेरे शरणागत होकर जन्म और मरण से मुक्ति पाने के लिए प्रयत्न करते हैं, वे उस परब्रह्म को, सम्पूर्ण अध्यात्म को तथा सारे कर्मों को पूर्ण रूप से जान जाते हैं. (७.२९)

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर् युक्तचेतसः ॥३०॥

जो युक्तचित्तवाले मनुष्य अन्त समय में भी मुझे ही अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ रूप से जानते हैं, वे मुझको ही प्राप्त होते हैं. (८.०४ भी देखें.) (७.३०)

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥

इस प्रकार श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र
विषयक श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् का ज्ञानविज्ञानयोग
नामक सप्तम अध्याय पूर्ण होता है.

अथ पञ्चदशोऽध्यायः
पुरुषोत्तमयोगः
१५. पुरुषोत्तमयोग

सृष्टि माया की शक्ति से उत्पन्न वृक्ष के समान

श्रीभगवानुवाच–
ऊर्ध्वमूलम् अधःशाखम् अश्वत्थं प्राहुर् अव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस् तं वेद स वेदवित् ॥१॥

श्रीभगवान् बोले– इस संसार को एक सनातन पीपल का वृक्ष कहा गया है, जिसका स्रोत (मूल) परमात्मा है, अनन्त ब्रह्माण्ड जिसकी शाखाएं हैं तथा वेदमंत्र जिसके पत्ते हैं. इस संसाररूपी वृक्ष को जो मनुष्य मूल सहित (तत्त्व से) जान लेता है, वही वेदों का जाननेवाला है. (गीता १०.०८ तथा कठ.उ. ६.०१, भा.पु. ११.१२.२०-२ ४ भी देखें.) (१५.०१)

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास् तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्य् अनुसंततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥२॥

इस वृक्ष की शाखाएं सभी ओर फैली हुई हैं; प्रकृति के गुणरूपी जल से इसकी वृद्धि होती है; विषयभोग इसकी कोंपलें हैं; इस वृक्ष की (अहंकार और इच्छारूपी) जड़ें पृथ्वीलोक में कर्मबन्धन बनकर व्याप्त हैं. (१५.०२)

मानव शरीर – सूक्ष्म ब्रह्माण्ड अर्थात् विश्व – की तुलना एक आदि और अन्त रहित वृक्ष से भी की जा सकती है. कर्म उसका बीज है और अनन्त कामनाएं उसकी जड़ें हैं. पांच मौलिक तत्त्व प्रमुख शाखाएं हैं तथा ज्ञान और कर्म की दस इन्द्रियां उसकी उपशाखाएं हैं. भौतिक प्रकृति के तीन गुण पोषण प्रदान करते हैं और ऐन्द्रिक सुख उसके अंकुर हैं. यह वृक्ष सतत रूप से परिवर्तित होता रहता है, किन्तु शाश्वत अनादि और अन्तहीन है. जैसे पत्तियां वृक्ष की रक्षा करती हैं, वैसे ही वैदिक कर्मकाण्ड इसकी रक्षा करता है

और इसे स्थायित्व देता है. जो भी इस अलौकिक वृक्ष को, इसके मूल को, इसकी प्रकृति और कर्म-प्रक्रिया को समझता है, वही सही अर्थों में वेदों का ज्ञाता है.

सनातन आत्मा के दो स्वरूप – दैवी नियन्ता और नियन्त्रित जीवात्मा – सृष्टि की लीला के रूप में इसी वृक्ष पर नीड़ बनाकर रहते हैं. गुण और अवगुण इसके गौरवमय पुष्प हैं और आनन्द तथा पीड़ा इसके मीठे और कड़ुवे फल. जीवात्मा अज्ञानवश इन फलों को खाता है, जबकि नियन्ता वृक्ष पर बैठा हुआ सब देखता है और जीवात्मा का पथ-प्रदर्शन करता है. जीवात्माएं विभिन्न कोटि के सुन्दर पक्षियों की भाति हैं. कोई भी दो पक्षी समान नहीं हैं. इसी से सृष्टि सुन्दर है.

मोह-वृक्ष को काटने और प्रभु-शरण से मोक्ष-प्राप्ति कैसे?

न रूपम् अस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर् न च संप्रतिष्ठा ।
अश्‍वत्थम् एनं सुविरूढमूलम्
असङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥३॥

ततः पदं तत् परिमार्गितव्यं
यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तम् एव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥४॥

इस मायारूपी संसार-वृक्ष के स्वरूप, आदि तथा अन्त का पता नहीं है. (इसलिए) मनुष्य इसकी (अहंकार और इच्छारूपी) जड़ों को ज्ञान और वैराग्यरूपी शस्त्र द्वारा काटकर ऐसा सोचते हुए – कि मैं उस परम पुरुष की शरण में हूं, जिससे ये सारी सनातन विभूतियां व्याप्त हैं – उस परमतत्त्व की खोज करे, जिसे प्राप्तकर मनुष्य पुनः इस संसार में वापस नहीं आता. (१५.०३-०४)

सृष्टि आवर्ती है – आदि-अन्त-हीन. सतत रूप से यह परिवर्तित होती रहती है और इसका कोई स्थायी अस्तित्व या वास्तविक आकार नहीं है. आध्यात्मिक साधना की शिला पर व्यक्ति को अपने तत्त्वज्ञान और अनासक्ति के कुल्हाड़े को पैना कर जीवात्मा

और परमात्मा के बीच की भिन्नता की अनुभूति को काट डालना चाहिए तथा हर्ष और शोक की विचरती छायाओं से बने जीवन-नाटक में प्रसन्नतापूर्वक भाग लेते हुए इस संसार में अहम् और वासना से पूर्णतः मुक्त होकर रहना चाहिए.

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर् विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्
गच्छन्त्य् अमूढाः पदम् अव्ययं तत् ॥५॥

जो मान और मोह आदि से निवृत्त हो चुके हैं, जिन्होंने आसक्तिरूपी दोष को जीत लिया है, जो परमात्मा के स्वरूप में नित्य स्थित हैं और जिनकी कामनाएं पूर्णरूप से समाप्त हो चुकी हैं तथा जो सुख-दुःख नामक द्वन्द्वों से विमुक्त हो गए हैं – ऐसे ज्ञानी जन उस अविनाशी परमधाम को प्राप्त करते हैं. (१५.०५)

न तद् भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद् धाम परमं मम ॥६॥

उस स्वयंप्रकाशित परमधाम को न सूर्य प्रकाशित कर सकता है, न चन्द्रमा और न अग्नि ही. वही मेरा परमधाम है, जिसे प्राप्त कर मनुष्य इस संसार में पुनर्जन्म नहीं लेते. (गीता १३.१७, १५.१२ तथा कठ.उ. ५.१५, श्वे.उ. ६.१४, मु.उ. २.०२.१० भी देखें.) (१५.०६)

परमात्मा स्वयं-प्रभासित है, किसी अन्य शक्ति से प्रकाशित नहीं. वह सूर्य-चन्द्रमा को प्रकाशित करता है, वैसे ही जैसे प्रभासित दीपक अन्य पदार्थों को (देवी.भा. ७.३२.१४). परमात्मा सृष्टि के समय अस्तित्व में आए सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि से पहले विद्यमान था तथा महाप्रलय काल में सब वस्तुओं के विलुप्त प्रकृति में विलय होने के बाद भी विद्यमान रहेगा.

जीवात्मा भोक्ता है

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥७॥

जीवलोक में सनातन जीवभूत, अर्थात् जीवात्मा, मेरी ही शक्ति का एक अंश है, जो प्रकृति में स्थित मन सहित छः इन्द्रियों को चेतना प्रदान करता है. (१५.०७)

मूलतः आत्मा ही ब्रह्म कही जाती है. आत्मा ही परब्रह्म की सच्ची प्रकृति है. अतः आत्मा (ब्रह्म) को परब्रह्म का अभिन्न अंग भी कहा जाता है. इसी को व्यक्तिगत आत्मा, जीव या प्राणियों के शरीर में (विद्यमान) जीवात्मा भी कहा जाता है. आत्मा और व्यक्तिगत आत्मा के बीच का अन्तर सीमित करती अनुबद्धताओं — शरीर और मन — के कारण (दीखता) है, वैसे ही जैसे यह भ्रम (होता है) कि बन्द पात्र का आकाश असीमित आकाश से अलग है.

शरीरं यद् अवाप्नोति यच् चाप्य् उत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर् गन्धान् इवाशयात् ।।८।।

जैसे हवा फूल से गन्ध को निकालकर एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाती है, वैसे ही जीवात्मा मृत्यु के बाद छः इन्द्रियों को एक शरीर से दूसरे शरीर में ले जाता है. (२.१३ भी देखें.) (१५.०८)

यह जीवात्मा सूक्ष्म शरीर — अर्थात् अनुभूति की छः ऐन्द्रिय शक्तियों — को एक स्थूल भौतिक शरीर से दूसरे तक मृत्यु के बाद वैसे ही ले जाती है, जैसे वायु धूल को एक स्थान से दूसरे स्थान तक. वायु धूल के संसर्ग से न प्रभावित होती है, न अप्रभावित. इसी प्रकार जीवात्मा भी शरीर के भावों से न प्रभावित होती है, न अप्रभावित (म.भा. १२.२११.१३-१४). भौतिक शरीर देश-काल की सीमाओं में सीमित हैं, किन्तु अदृश्य सूक्ष्म शरीर असीमित हैं, सर्वव्यापी हैं. सूक्ष्म शरीर व्यक्ति के अच्छे-बुरे कर्म को अगले जन्म तक ले जाते हैं, जब तक कि समस्त कर्म समाप्त नहीं हो जाता. जब वासनाओं एवं कामनाओं का सारा चिह्न आत्म-बोध की उषा के उपरान्त मिट जाता है, तब भौतिक शरीर का अस्तित्व मानो और नहीं रहता है और मस्तिष्क में सूक्ष्म शरीर का भाव दृढ़ हो जाता है. सूक्ष्म शरीर भौतिक शरीर की ही हूबहू प्रतिलिपि है. सूक्ष्म संसार के जीव कला, तकनीक और संस्कृति में अधिक विकसित हैं. वे भौतिक संसार को विकसित और अभिवृद्ध करने के लिए भौतिक शरीरों को धारण करते हैं. स्वामी हरिहरानन्द गिरि कहते हैंः व्यक्ति प्रभु के

दर्शन या उसकी अनुभूति और प्राप्ति नहीं कर सकता, यदि वह अदृश्य सूक्ष्म शरीर की खोज नहीं करता.

जाग्रत् अवस्था में भौतिक शरीर, मस्तिष्क, बुद्धि और अहम् सक्रिय रहते हैं. स्वप्नावस्था में जीवात्मा अस्थायी तौर पर स्वप्न-संसार की सृष्टि करता है और भौतिक शरीर का त्याग किए बिना स्वप्न-शरीर के साथ स्वप्न-संसार में विचरण करता है. गहन निद्रावस्था में जीवात्मा ब्रह्म में — मन और बुद्धि से अप्रभावित — पूर्णतः लीन रहता है. परब्रह्म, अर्थात् वैश्विक चेतना, तीनों अवस्थाओं में प्रत्यक्षदर्शी के रूप में हमें देखता है. मृत्यु के बाद जीव एक शरीर छोड़कर दूसरा ग्रहण कर लेता है. जीव बन्धनमय हो जाता है, खो जाता है और फिर अपनी वास्तविक प्रकृति की खोज के द्वारा मुक्त होने का प्रयत्न करता है. ब्रह्म की दिशा में की गई लम्बी और दुरूह आध्यात्मिक यात्रा में पुनर्जन्म जीव को भौतिक शरीर रूपी यान बदलने की सुविधा प्रदान करता है. समस्त कर्म की समाप्ति होने तक जीवात्मा विभिन्न भौतिक शरीरों को ग्रहण करता रहता है और कर्म-निग्रह के बाद ब्रह्म प्राप्ति का ध्येय पूर्ण कर लेता है.

कहा जाता है कि ब्रह्म माया का आवरण ओढ़ लेता है, जीवात्मा बन जाता है, मानवीय और अन्य रूप धारण करता है, मात्र भवलीला-नाटक खेलने के लिए; जिसमें नाटक के लेखक, निर्माता, निर्देशक, समस्त अभिनेता तथा साथ ही साथ दर्शक, सब एक वही है. प्रभु लीला करता है, अभिनय करता है और अपनी ही सृष्टि का आनन्द भोगता है. हमारी सभी समस्याएं तिरोहित हो जाएंगी, यदि हम इस बात का ध्यान रखें कि हम केवल एक भूमिका का अभिनय कर रहे हैं और कभी भी घटनाओं को नितान्त व्यक्तिगत रुप में न लें. ब्रह्मलीला के अभिनेता, प्रभु, को देखने के लिए हमें लीला से अपने मन को तटस्थ एवं अनासक्त रखना होगा. विज्ञान केवल ब्रह्मलीला-ज्ञान से सम्बन्ध रखता है, जबकि अध्यात्म ब्रह्मलीला के परम अभिनेता के ज्ञान का विश्लेषण — जैसा कि आंशिक रूप से जीवात्मा-अभिनेता उसे समझता है — करता है.

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणम् एव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयान् उपसेवते ।।९।।
उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ।।१०।।

यह जीव कर्ण, चक्षु, त्वचा, रसना, घ्राण और मन के द्वारा विषयों का सेवन करता है. अज्ञानी जन जीव को एक शरीर से दूसरे शरीर में जाते हुए अथवा शरीर में स्थित गुणों से समन्वित होकर विषयों को भोगते हुए नहीं देख सकते; उसे केवल ज्ञानचक्षु-वाले ही देख सकते हैं. (१५.०९-१०)

आध्यात्मिक आनन्द की सुधा के उच्चतर स्वाद को विकसित करने पर इन्द्रियां भौतिक सुखों का स्वाद खो देती हैं. आध्यात्मिक आनन्द की प्राप्ति व्यक्ति की ऐन्द्रिय तुष्टीकरण की कामना की सच्ची पूर्ति है. शुद्धात्मा गलत काम, जो ऐन्द्रिय सुखों की अवशिष्ट सूक्ष्म कामनाओं के कारण आगे आते हैं, करने से परहेज करेगी.

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्य् आत्मन्य् अवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्य् अकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्य् अचेतसः ॥११॥

प्रयत्न करनेवाले योगी जन अपने अन्तःकरण में स्थित जीवात्मा को देखते हैं; अशुद्ध अन्तःकरण-वाले अविवेकी मनुष्य यत्न करते हुए भी आत्मा को नहीं देख (या जान) सकते हैं. (१५.११)

ब्रह्म सब वस्तुओं का सार है

यद् आदित्यगतं तेजो जगद् भासयतेऽखिलम् ।
यच् चन्द्रमसि यच् चाग्नौ तत् तेजो विद्धि मामकम् ॥१२॥

जो तेज सूर्य में स्थित होकर सारे संसार को प्रकाशित करता है तथा जो तेज चन्द्रमा में और अग्नि में है, उसे तुम मेरा ही तेज जानो. (१३.१७, १५.०६ भी देखें.) (१५.१२)

सूर्य का प्रकाश उस (प्रभु) की दीप्ति का प्रतिबिम्ब है (ऋ.वे. १०.०७.०३). ब्रह्मज्ञानी सर्वत्र – अपने में, सबमें और समस्त लोक में – उस परम ज्योतिपुंज को देखते हैं जो दृश्य विश्व का स्रोत है तथा सर्वव्यापी दिन के प्रकाश की तरह द्युतिमान है (छा.उ. ३.१७.०७). संसार और उसके सब पदार्थ ब्रह्माण्ड के चित्रपट पर छोड़ी हुई छाया और प्रकाश से बने चित्र मात्र है (योगानन्द). कुरआन का कहना है– प्रभु स्वर्ग, आकाश और धरती की ज्योति है (सूरा २४.३५).

पावन अमरज्योति का आकार एक दिव्य ज्योति-ऊर्जा के बृहद् द्युतिमान पुंज-सा है. वह परब्रह्म की ज्योति ही है, जो अमरज्योति में है और जो सूर्य, चन्द्रमा, तारागण आदि आकाशगंगा के सब प्रकाशपुंज नक्षत्रों में है. यह उसी (परब्रह्म) की ज्योति है, जो काष्ठों में है, दीपकों और शमाओं में है और ऊर्जा के रूप में सब प्राणियों में है. उसी का प्रकाश सब प्रकाशों में निहित है और लोक की समस्त ऊर्जा का स्रोत है. परब्रह्म की सत्ता के बिना अग्नि घास के एक तिनके को भी जलाने में असमर्थ है. परब्रह्म की इस ज्योति की अनुभूति या प्रतीति तब तक नहीं हो सकती, जब तक व्यक्ति ने अपने मन को पूर्णतः सशक्त और शान्त, बुद्धि को शुद्ध तथा इच्छा-अनुभूति-शक्ति को विकसित न कर लिया हो. साथ ही व्यक्ति को इतना सशक्त भी होना पड़ेगा कि वह परम समाधिस्थ होकर सब ज्योतियों की इस ज्योति की अनुभूति के समय उत्पन्न होनेवाले मानसिक आघात को सहन कर सके.

जैसा कि प्रिज्म के अभाव में मानव-चक्षुओं को सूर्यप्रकाश का समस्त प्रतिबिम्ब परिदर्शित नहीं हो सकता, वैसे ही हम प्रभु-कृपा और शास्त्रों के पढ़े बिना परब्रह्म की ज्योति को नहीं देख सकते. जिन योगियों ने अपनी चेतना को परम चेतना में पूर्णतः आत्मसात् कर लिया है, वे ही समाधि में अमरज्योति के दर्शन कर सकते हैं. यह समस्त लोक परब्रह्म की ऊर्जा से ही टिका है और उसी की महिमा को प्रतिबिम्बित करता है.

गाम् आविश्य च भूतानि धारयाम्य् अहम् ओजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ।।१३।।

मैं ही पृथ्वी में प्रवेश करके अपने ओज से सभी भूतों को धारण करता हूं और रस देनेवाला चन्द्रमा बनकर सभी वनस्पतियों को रस प्रदान करता हूं. (१५.१३)

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहम् आश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्य् अन्नं चतुर्विधम् ।।१४।।

मैं ही सब प्राणियों के शरीर में स्थित वैश्वानर अग्नि हूं, जो प्राण और अपान वायु से मिलकर चारों प्रकार के अन्न को पचाता है. (१५.१४)

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो
मत्तः स्मृतिर् ज्ञानम् अपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैर् अहम् एव वेद्यो
वेदान्तकृद् वेदविद् एव चाहम् ॥१५॥

तथा मैं ही सभी प्राणियों के अन्तःकरण में स्थित हूं. स्मृति, ज्ञान तथा शंका समाधान (विवेक या समाधि द्वारा) भी मुझसे ही होता है. समस्त वेदों के द्वारा जानने योग्य वस्तु, वेदान्त का कर्ता तथा वेदों का जाननेवाला भी मैं ही हूं. (६.३९ भी देखें.) (१५.१५)

परब्रह्म सब शास्त्रों का स्रोत है (ब्र.सू. १.०१.०३). प्रभु समस्त प्राणियों की चेतना के रूप में अन्तःकरण में निवास करते हैं, न कि शरीर के भौतिक हृदय में, जैसा कि साधारणतः गलती से समझा जाता है.

क्षर, अक्षर और अक्षरातीत क्या हैं?

द्वाव् इमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१६॥

लोक में (परब्रह्म के) क्षर (नश्वर) पुरुष और अक्षर (अविनाशी) पुरुष नामक दो दिव्य स्वरूप हैं. समस्त जगत् क्षर पुरुष का विस्तार है और अक्षर पुरुष (अर्थात् आत्मा) अविनाशी कहलाता है. (१५.१६)

यहां दिव्य पुरुष, परमपिता परमात्मा, के दो स्वरूपों — क्षर पुरुष और अक्षर पुरुष — का वर्णन किया गया है. समस्त सृष्टि — सब देवों, चौदह लोकों से लेकर घास के तिनके तक — दिव्य पुरुष के क्षर स्वरूप का विस्तार है. अक्षर पुरुष (अर्थात् आत्मा) चैतन्य शक्ति है, जो समस्त कारणों का मूल कारण है, स्रोत है; जिससे क्षर पुरुष, प्रकृति और असंख्य ब्रह्माण्ड उत्पन्न होते हैं; जिससे उनका पोषण होता है और जिसमें उनका पुनः पुनः विलय होता है. क्षर और अक्षर पुरुष (आत्मा) को श्लोक १३.०१-०२ में क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ तथा श्लोक १४.०३-०४ में योनि (अर्थात् माता) और बीजप्रद पिता भी कहा गया है.

उत्तमः पुरुषस् त्व् अन्यः परमात्मेत्य् उदाहृतः ।
यो लोकत्रयम् आविश्य बिभर्त्य् अव्यय ईश्वरः ॥१७॥

परन्तु इन दोनों से परे एक तीसरा उत्तम दिव्य पुरुष है, जो परब्रह्म अर्थात् परमात्मा कहलाता है. वह तीनों लोकों में प्रवेश करके ईश्वररूप से सब का पालन-पोषण करता है. (१५.१७)

यस्मात् क्षरम् अतीतोऽहम् अक्षराद् अपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥१८॥

क्योंकि मैं, परब्रह्म परमात्मा, क्षर पुरुष (अर्थात् नारायण) और अक्षर पुरुष (अर्थात् ब्रह्म) दोनों से उत्तम (अर्थात् परे) हूं, इसलिए लोक और वेद में पुरुषोत्तम कहलाता हूं. (मु.उ. २.०१.०२ भी देखें.) (१५.१८)

मूलतः क्षर (दैव), अक्षर (आत्मा, ब्रह्म) और अक्षरातीत (परब्रह्म परमात्मा, परमसत्य) एक ही सत्ता के तीन विभिन्न स्वरूप हैं. अदृश्य, अपरिवर्तनीय और अविकारी स्वरूप को अक्षर कहा गया है. क्षर स्वरूप उसी अक्षर स्वरूप का भौतिक लोक में विस्तार है. समस्त सृष्टि सतत रूप से परिवर्तनीय और विकारी है तथा क्षर कहलाती है. क्षर और अक्षर दोनों ही अक्षरातीत (परब्रह्म) का विस्तार है. अक्षरातीत परब्रह्म ही – जो क्षर और अक्षर दोनों का मूलाधार है, परम सत्य है, परमात्मा है – अनेक नामों से जाना जाता है. उसी परब्रह्म का सगुण स्वरूप ही कृष्ण, पिता, माता, ईश्वर, शिव, अल्लाह आदि नामों से जाना जाता है.

परमपिता परमात्मा का अवरोहण

नोट– निम्न व्याख्या केवल उन प्रबुद्ध पाठकों के लिए है जिन्होंने गीता के अध्ययन में कुछ वर्ष लगाए हैं. पाठक-गण निम्न लिखित वैश्विक व्यवस्था को श्रेणी-क्रम (Hierarchy of Cosmic Control) से अंकित करते हुए रेखाचित्र को देखने के लिए कृपया website: www.gita-society.com/section2/genesis.jpg पर जाएं. कोष्ठक के अन्दरवाले अंकों को website के रेखाचित्र में देखें.

वैदिक सृष्टि-शास्त्र में आकाश (Cosmic Space) पांच प्रमुख क्षेत्रों में विभाजित है– (१) चिदाकाश, (२) सदाकाश, (३) परमाकाश, (४) ब्रह्माण्डाकाश, और (५) घटाकाश.

(१) चिदाकाश

परब्रह्म परमात्मा (1) का निवास, परमधाम (गीता १५.०६); सर्वोपरि स्थान, चिदाकाश, में स्थित है. यहां श्रीकृष्ण परमात्मा, परमप्रभु, परब्रह्म, पुरुषोत्तम, सच्चिदानन्द, पिता, परमेश्वर आदि विभिन्न नामों से जाने जाते हैं.

(२) सदाकाश

अक्षरब्रह्म (2) सदाकाश में परब्रह्म परमात्मा की सत् प्रकृति का विस्तार है, जैसा कि गीता १०.४२ और १४.२७ में बताया गया है. गीता के श्लोक ८.०३ और १५.१६ में उल्लिखित अक्षरब्रह्म के तीन प्रमुख विस्तार (या पाद) ये हैं— सत् (2a), सबलब्रह्म या चित्त (2b), और आनन्द (2c) अथवा केवलब्रह्म. सत् स्वभाव को आत्मा या परमेश्वर भी कहा गया है. चित्त स्वभाव के और भी विभिन्न नाम हैं, जैसे — चैतन्यब्रह्म, परमशिव और परात्मा. केवलब्रह्म की ऊर्जा, आनन्द, को गीता के श्लोक ४.०६ और ७.२५ में योगमाया भी कहा गया है.

(३) परमाकाश

चित्त (2b) और आनन्द (2c) प्रकृतियां परमाकाश में चतुर्थपाद, अव्यक्त अक्षरब्रह्म या अव्यक्तब्रह्म (3), के अवरोहण हेतु संयुज्य होती हैं. इसे कई नामों से जाना जाता है— जैसे अनिर्वचनीय ब्रह्म, अव्यक्त, आदिपुरुष, आदिप्रकृति, प्रधान, विग्रह और सर्वकारण-कारणम्. अव्यक्तब्रह्म, जो परब्रह्म (परमात्मा) का लघु अंश मात्र है, अनन्त ब्रह्माण्ड में विस्तार पाता है, जैसा कि गीता ८.१८ और १०.४१ में कहा गया है. परमाकाश योगमाया की प्रमुख शक्तियों—आवरण शक्ति, विक्षेप शक्ति, विग्रह शक्ति, ब्रह्मविद्या शक्ति, प्रज्ञा, कर्म तथा ऊर्जा को पदार्थ और पदार्थ को ऊर्जा में परिवर्तन करने की शक्ति आदि— का भी आवास है.

भगवान् कृष्ण परमाकाश में गोलोकीनाथ के रूप में जाने जाते हैं. गोलोकीनाथ अर्थात् अव्यक्तब्रह्म के दो प्रमुख विस्तरण हैं– ब्रह्मशिव या प्रणव-ब्रह्म (3a) और मायाब्रह्म (3b). प्रणवब्रह्म नादशिव या ओंकार (3a.1) में विस्तार पाते हैं, और ओंकार शिव या ओम् (3a.1a) में (गीता १०.२५). प्रणवब्रह्म का अवरोहण गायत्री (3a.2) (गीता १०.३५) में भी होता है, जो वेदों का आवास है (गीता ७.०८).

मायाब्रह्म परमाकाश में योगमाया का प्रतिबिम्ब है. यह अन्य क्रमिक परिवर्तित रूपों – जैसे महामाया, कालमाया और माया (3b.1) (गीता ७.१४) – में भी अवतरित होता है.

(४) ब्रह्माण्डाकाश

माया अपनी सर्जनात्मक ऊर्जा शक्ति के अल्पांश से ब्रह्माण्डा-काश का निर्माण करती है. ब्रह्माण्डाकाश में माया देवी हिरण्यगर्भ (Golden Egg) का भी निर्माण करती है. आदिनारायण (अथवा आदि पुरुष (4), क्षर पुरुष, शम्भू, महादेव) और महादेवी (अथवा आदि प्रकृति, मां, अम्बा) हिरण्यगर्भ में एक कल्प या 311 Trillion solar years तक योगनिद्रा में रहते हैं (गीता ६.०७). ओम् का ब्रह्मनाद हिरण्यगर्भ को सक्रिय अर्थात् जाग्रत् कर महाविष्णु – जो पुरुष (4a) या नारायण, (गीता ७.०५, १५.१६) नाम से भी जाने जाते हैं – और अम्बा या प्रकृति (4b) (गीता ७.०४) का उद्भव करता है. प्रकृति के तीन गुण हैं. (अध्याय १४ भी देखें.) प्रकृति के इन तीन गुणों का समुच्चय महत्तत्व, तन्नमात्रा अथवा महत् (4b.1) भी कहलाता है. महाविष्णु अपनी श्वाँस-शक्ति से घटाकाश में अनन्त ब्रह्माण्ड (Cosmic Eggs) की उत्पत्ति करते हैं.

(५) घटाकाश

घटाकाश (अथवा विष्णुलोक) में ब्रह्माण्डाकाश के नारायण या महाविष्णु विष्णु (5) के रुप में प्रकट होते हैं, जहाँ उनको क्षिरोदक-विष्णु भी कहा जाता है और वे अपनी भूमिका का विस्तार ब्रह्मा (5b) और शंकर (5c) के रूप में करते हैं. ब्रह्मा सात स्वर्गों, सात पातालों, जम्बूद्वीपों, धरा और अन्य नारकीय नक्षत्रों का सृजन करते हैं.

आंशिक-प्रलय-काल (गीता ८.१७) में ब्रह्मा की समस्त सृष्टि क्षिरोदक विष्णु के उदर में समाहित रहती है. नारायण अपना विस्तार निरंजन देव और ईश्वर के रूप में भी करते हैं. निरंजनदेव महत्तत्व को सक्रिय कर पंचभूतों (5d) – पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश – का निर्माण करते हैं. (गीता ७.०४ भी देखें.)

पंचभूत विस्तृत होकर २४ तत्त्वों (गीता १३.०६ में व्याख्या देखें.) के बने हुए पिण्ड में परिवर्तित हो जाते हैं. पिण्ड से जीवों के पार्थिव शरीरों की रचना पृथ्वी पर की जाती है, जब नारायण अपनी जीवन-शक्ति का बीज (श्लोक ७.१०, १०.३६ और १४.०४ भी देखें) पिण्ड में प्रस्थापित करते हैं और ईश्वर के रूपमें समस्त जीवों के अन्तःकरण में निवास करते हैं. (१५.०७ और १८.६१ भी देखें.) जीव जब तक माया द्वारा निर्मित अज्ञान के पर्दे के कारण शारीरिक धारणा में रहता है तब तक पृथ्वी पर चौरासी लाख योनियों मे आवागमन करता रहता है. जीव उस समय मोक्ष प्राप्त करता है जब उसे अपने अच्छे कर्मों या भगवत्-कृपा से किसी सद्‌गुरु या गीता द्वारा ज्ञान की प्राप्ति होती है और यह अनुभव कर लेता है कि वह पार्थिव शरीर या कर्ता नहीं है, वरन् परमात्मा का दैवी माध्यम और अभिन्न अंग, आत्मा, है.

ब्रह्माण्डाकाश और घटाकाश में हर वस्तु क्षर कहलाती है. सदाकाश और परमाकाश में हर वस्तु अक्षर (अविनाशी, शाश्वत) कहलाती है. परमात्मा को क्षर और अक्षर दोनों से परे, गीता के श्लोक १५.१८ में, अक्षरातीत कहा गया है.

यो माम् एवम् असंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत ।।१९।।

हे अर्जुन, मुझ पुरुषोत्तम को इस प्रकार तत्त्वतः जाननेवाला ज्ञानी (परा भाव से) निरन्तर मुझ परमेश्वर को ही भजता (अर्थात् भक्ति और प्रेम करता) है. (७.१४, १४.२६, १८.६६ भी देखें.) (१५.१९)

इति गुह्यतमं शास्त्रम् इदम् उक्तं मयाऽनघ ।
एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत ।।२०।।

हे निष्पाप अर्जुन, इस प्रकार मेरे द्वारा कहे गए इस गुह्यतम शास्त्र को तत्त्वतः जानकर मनुष्य ज्ञानवान् और कृतार्थ हो जाता है. (१५.२०)

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥

इस प्रकार श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र
विषयक श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषद् का पुरुषोत्तमयोग
नामक पन्द्रहवां अध्याय पूर्ण होता है.

उपसंहार
भगवान् श्रीकृष्ण का अंतिम संदेश

विश्व में धर्म-संस्थापना के दुरूह कार्य को सम्पन्न करने के बाद इस भूलोक कर्मक्षेत्र से प्रस्थान करने की पूर्वसंध्या पर भगवान् कृष्ण ने अपने परमप्रिय भक्त और अनुगामी बन्धु उद्धव को अपना अन्तिम संदेश दिया. एक हजार श्लोकों से भी अधिक लम्बे इस उपदेश के उपरान्त उद्धव ने कहा– हे प्रभो, मेरे विचार में अधिकतर लोगों के लिए उस योग का पालन निश्चय ही बहुत कठिन है, जिसका वर्णन आपने पहले अर्जुन के और अब मेरे समक्ष प्रस्तुत किया है, क्योंकि उसके लिए बेलगाम इन्द्रियों पर नियंत्रण पाना अत्यन्त आवश्यक है. कृपया मुझे प्रभुप्राप्ति का सरल और संक्षिप्त मार्ग बताएं. उद्धवजी की प्रार्थना पर भगवान् कृष्ण ने आधुनिक युग के लिए आत्मबोध के जिन अनिवार्य तत्त्वों का वर्णन किया, वे निम्नलिखित हैं–

(१) बिना स्वार्थपूर्ण उद्देश्य के मेरे (प्रभु के) लिए अपनी क्षमता के अनुरूप अपने कर्तव्य का पालन करो. किसी कार्य को प्रारम्भ करने से पहले, कार्य सम्पन्न होने के बाद और निष्क्रिय होते समय भी सदा मेरा स्मरण करो. (२) मनसा-वाचा-कर्मणा सब जीवों में मेरा ही दर्शन करने का अभ्यास करो और मन से सब के सम्मुख झुककर प्रणाम करो. (३) अपनी प्रसुप्त कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत् करो और मन, इन्द्रियों तथा श्वासों और भावों की क्रियाओं के माध्यम से प्रतिक्षण अपने भीतर भगवान् की शक्ति को देखो, जो तुम्हें मात्र माध्यम के रूप में प्रयोग कर सतत सब कार्य कर रही है.

योगी मुमताज़ अली कहते हैं– जो व्यक्ति अपने को पूर्णतः प्रकृति मां का लीलाक्षेत्र और माध्यम मात्र जानता है, वह सत्य का ज्ञाता है. विश्व और मानव-मन के वास्तविक तत्त्वबोध से सब इच्छाओं का शमन ही आत्मबोध है. हरिहरानन्द गिरि कहते हैंः प्रभु सबमें है और सर्वोपरि है. अतः यदि तुम्हें प्रभु को पाना है,

तो तुम्हें उसकी खोज हर अणु में, हर पदार्थ में, हर शारीरिक क्रिया में और हर मानव में समर्पण की भावना से करनी चाहिए.

मुनि जी कहते हैं– हमें भगवान् का माली होना चाहिए. ध्यान से उपवन की देखभाल करते हुए कभी भी हमें मोहग्रस्त नहीं होना चाहिए कि क्या पुष्पित पल्लवित होगा, क्या फल देगा और क्या सूख जाएगा, मर जाएगा. किसी वस्तु की अपेक्षा कुण्ठा की जननी है और स्वीकृति शान्ति देती है. भगवान् कृष्ण ने अन्य शास्त्रग्रन्थों में भी प्रभुप्राप्ति के तात्विक ज्ञान का सारांश इस प्रकार दिया है–

परमप्रभु कृष्ण ने कहा– जो मुझ परमपुरुष को जानना चाहता है, उसे केवल यह समझना चाहिए कि मैं सृष्टि के पहले भी विद्यमान था, मैं सृष्टि में विद्यमान हूं और प्रलय के बाद भी हूंगा. शेष अस्तित्व मेरी माया के अतिरिक्त कुछ भी नहीं हैं. मैं सृष्टि में विद्यमान हूं और सृष्टि के बाहर भी. मैं सर्वव्यापी परमप्रभु हूं, जो सर्वत्र, सब वस्तुओं में और सब कालों में विद्यमान है.

हरिः ॐ तत्सत् हरिः ॐ तत्सत् हरिः ॐ तत्सत्
श्रीकृष्णार्पणं अस्तु शुभं भूयात्
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

यह ग्रन्थ भगवान् कृष्ण को समर्पित है
प्रभु पाठकों को अच्छाई, समृद्धि,
और शान्ति प्रदान करें